डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृषभदेव तथा शिव दोनों ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव हैं. वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय में दोनों का देव देवताओं के विविध रूपों में अंकन हुआ है, वह अध्ययन का बड़ा मनोरंजक विषय है. प्रस्तुत लेख में उन्हीं मान्यताओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है.

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एवं पूज्यता जैन परम्परा में है, हिन्दू परम्परा में भी वह उसी कोटि की है. जिस प्रकार जैन परम्परा में उन्हें मान्य एवं संस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एवं पुराण भी उन्हें भगवान् के अवतार के रूप में मान्य करते हैं.

श्रीमद्भागवत[1] में भगवान् वृषभदेव का बड़ा ही सुन्दर चरित अंकित किया गया है. इसमें भगवान् की स्वयंभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पांचों पीढ़ियों की वंशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नहीं था. अतः उन्होंने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया. भगवान् ने दर्शन दिये. ऋत्विजों ने उनका संस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है. भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं. तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिए. अतः मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूंगा.' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप में जन्म लिया.

इसी पुराण में आगे लिखा है—यज्ञ में ऋषियों द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत्त परीक्षित्त स्वयं श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ में आये. उन्होंने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया.'[2]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल में इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण में भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारों में गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारों से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है. इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत में दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असंदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से संयुक्त करा देता है. ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है. श्रीमद्भागवत में ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१. श्रीमद्भागवत ५, २-६.

२. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः 'प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार.'—श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध.

३. शिव पुराण. ७, २, ९.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार बतलाया गया है :

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम् ।'

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था. किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी संभव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था. जैन साधुओं के आचार में अस्नान, अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है. बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे. तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था[१]—

'नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि, अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि.'

अर्थात्—हे भिक्षुओ, मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता, अचेलक के अचेलकत्व मात्र से, रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता.

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है. ऋग्वेद में उल्लेख है[२] :

'मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला,
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविसत ।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्,
शरीरे दस्माकं सू यं मर्तासो अभिश्यथ ।'

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं. जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त होजाते हैं.

वातरशना मुनि प्रकट करते हैं—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव 'अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते हैं. तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं.

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है, जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे. केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है :[३]

'केश्यग्नि केशी विषं केशी विभर्ति रोदसी,
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।'

केशी अग्नि, जल, स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है. केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है, अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है.

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्त्तक के निगूढ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकाश में लाती है.

---

१. मज्झिमनिकाय, ४०.
२. ऋग्वेद, १०, १३६, २-३.
३. ऋग्वेद, १०, १३६, १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर के उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं. सामान्यतः केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियों को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त में जिन वातरशना साधुओं की साधनाओं का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती. केशी स्पष्टतः वातरशना मुनियों के अधिनायक ही हो सकते हैं, जिनकी साधना में मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है. सूक्त में आगे उन्हें ही :

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः.'

देवदेवों के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है. वातरशना शब्द में और मलरूपी वसन धारण करने में उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी संकेत है.

श्रीमद्भागवत में ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है :

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज. जडान्ध-मूक-वधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौन-व्रतः तूष्णीं बभूव..........परागवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत."

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था. वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशों सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए. वे जड़, मूक, अन्ध, वधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष में लोगों के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे,............सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशों के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हें कोई भूत लगा हो.

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत में पल्लवित भाष्यरूप में प्रस्तुत कर दिया गया है. दोनों में ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं.

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशों का अंकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है. यथार्थतः समस्त तीर्थंकरों में केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है. ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर में भी यही रहस्य निहित मालूम देता है.[१] केसर, केश और जटा-तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं. जिस प्रकार सिंह अपने केशों के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं. केसरियानाथ पर जो केशर चढ़ाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है. इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एवं श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एवं केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं.

ऋग्वेद की निम्नांकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है :[२]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतःसहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

१. राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एवं पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है.

२. ऋग्वेद, १०, १०२, ६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है, उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्गलस्य हृप्ता गाव:' आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे. उन्हें लौटाने के लिये ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया, जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं.

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक् बतलाया है, किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है :

"अथवा अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् अशमशब्दयत्" इत्यादि.

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है :[१]

"मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं."

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थीं, वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं.

वृषभदेव और वैदिक अग्निदेव—अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूत्रों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही हैं—जातवेदस् [जन्मतःज्ञान-सम्पन्न], रत्नधरक्त [दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नों को धारण करनेवाला] विश्ववेदस् [विश्वतत्त्वों का ज्ञाता] मोक्ष नेता, ऋत्विज् [धर्मस्थापक], होता, हय, यज्ञ, सत्य यशवल इत्यादि.[२][†] वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिये स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र संज्ञा से करते हैं.[‡] रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण हैं.[३] अग्निदेव ही सूर्य है.[४] परमविष्णु ही देवों [आर्यगण] की अग्नि है.[५] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है, जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जातवेदस् [अग्नि] विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है.[६]

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्रि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए.[७]

इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा, अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्य देव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्रि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा

---

१. देखो डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी । वर्ष ७, अंक १-२, १९५७) ।

†२. ऋग्वेद, ११, ११२, अथर्व० ९, ४, ३ ऋग्वेद, १, १८९, १.

‡ 'यो वै रुद्रःसोऽशिनः'—शतपथब्राह्मण ५, २, ४, १३.

३. (अ) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपतिः उग्रः अशनिः भवः महादेवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही. ६, १, ३, १८.
(आ) 'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपतिः भुवनपतिर्भूतानां पतिः' वही, १, ३, ३, १९.

४. अग्निर्वार्थः. वही, २, ५, १, ४.

५. 'अग्निर्वै देवानाम् भवोको विष्णुपरम्' कौतस्य ब्राह्मण, ७, १.

६. अथर्व, ९, ४, ३,.

७. (अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिहं वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षय—शतपथ ब्राह्मण, ६, १, १, ११.
(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निराग्रर्तवै नामैतदग्यदग्गिरिति.'—वही २, २, ४, २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपभ्रंश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिये प्रयुक्त होता आ रहा था. यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियों को वृषभ की अग्नि संज्ञा 'अग्रि' अर्थमूलक करने के लिये तत्सम्बधी श्रुतियों को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पड़ी. अन्यथा संस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्रि एवं अग्नि शब्द में अत्यन्त पार्थक्य है.

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियों से सिद्ध होता है कि अग्नि संज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकांश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे.[1] इनमें यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातियां सम्मिलित थीं. ये लोग ऋग्वैदिक काल में कुरुक्षेत्र, पंचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश में बसे थे. जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश में से होते हुए कुरुभूमि में आबाद हुए और यहां पंचजन क्षत्रियों की धार्मिक संस्कृति के सम्पर्क में आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्य देव वृषभ को 'अग्नि' संज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया. यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १–९ में 'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दों द्वारा स्वयं व्यक्त किया है.

इस सूक्त के नौ मन्त्र हैं. इनमें से पहले सात मन्त्रों के अन्त में ऋषिवर ने उक्त शब्दों को पुनः पुनः दोहराया है. इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया).

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है. इसमें प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति में गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व संहिताओं में संकलित स्तोत्रों से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रों का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे. इसके अतिरिक्त इस सूक्त में भगवान् वृषभ द्वारा मनुओं की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओं से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है. इस सूक्त के निम्नांकित प्रथम चार मंत्रों से उल्लिखित तथ्यों की स्पष्टतः संपुष्टि होती है :

'अपश्चमित्रं (जो संसार का मित्र है.) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रन्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमानः (जो स्वयंभू है) सद्यःकाव्यानि वडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया.)[2]

पूर्वया निविदा काव्यतासोः (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), यमाः प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए हैं), देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया.)[3]

(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस).

(ई) 'प्रजापतिःदेवतानःसृज्यमान अग्निमेव देवानां प्रथमसृजत्.'
तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४.

(उ) 'अग्निर्वं सर्वाद्यम् ।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ९३.

१. 'जना यदग्निमजयन्त पञ्च.'—ऋग्वेद. १०, ४५, ६.

२. ऋग्वेद, १. ९, १.

३. वही, १, ९, २.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तमीडेत महासाधं (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), अर्हतं (सर्वपूज्य है), आरीविशः उव्जः भृज्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आनेवाली प्रजा को बल से समृद्ध करके), पुत्रं भरतं संप्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया.)[१]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), उसने स्वर्वितं (ज्ञान सम्पन्न हो कर), तनयाय (पुत्र के लिये) गातं (विद्या), विदद (देदी), वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है), पवितारोदस्योः (अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया.[२]

निर्वाण की पुण्य वेला में जब आदि प्रजापति वृषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र संस्मारक बन कर रह गई. जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी. उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था, अतः यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई. उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावतः उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को संतुष्ट एवं संतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा वृषभ के उपासनार्थ इज्या, पूजा एवं अर्चना का मार्ग निकाला था. वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे.[३] उन्होंने ही लोकमंगल के लिये अभीष्टसिद्धि, अनिष्टपरिहार एवं रोग-निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था. वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध हैं. जैन परम्परा के अनुसार यह भगवान् वृषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे. भगवान् ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था.[४]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वनों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा वृषभ के हिरण्यगर्भ, जातवेदस् जन्य, उग्र तपस्या, सर्वज्ञता देशना, सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का संकलन चौथे वेद में हुआ है. अतः इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई.

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम वृषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि चक्रवर्ती भरत महाराज, जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे, ने की थी. इसके पश्चात् उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् वृषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए.[५]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी. अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् वृषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं

---

१. ऋग्वेद १, ६, ३.
२. वही, १, ६, ४.
३. (अ) सत्यव्रात सामश्रमी निरक्तालोचन वि० सं० १६५३ पृ० सं० १५५.
   (आ) A. C. Das—Rigvedic Culture pp. 113—115.
   (इ) Dr. Winternitz—History of India Leterature Vol. I, 1927. P. 120.
   (ई) 'अग्निर्जातो अथर्वना.'—ऋग्वेद १०, २१, ५.
४. (अ) ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
   स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥—मुण्डकोपनिषद् १, १.
   (आ) 'स्वर्तितनयाय गातं विदद.' ऋग्वेद १, ६६, ४.
५. (अ) 'मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजं तद्नुकृत्येमा प्रजा यजन्ते.'—शतपथ ब्राह्मण, १५, १, ७.
   (आ) जिनसेनकृत आदिपुराण, पर्व ४७,३२२, ३५१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते हैं.[1]

प्राचीन अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ),[2] अक्षत (चावल), तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित स्वात्म-महिमा को ध्यान में रखने के लिये 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था. क्योंकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव में वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते हैं. और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि में आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते हैं. वषट् शब्द का उच्चारण किये बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है.

जैन पूजाग्रंथों तथा उनके दैनिक पूजा-विधानों में वौषट् (इति आह्वाननम्) ठः ठः (इति स्थापनम्), और वषट् [इति सन्निधीकरणम्]—इन तीन शब्दों द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है. उक्त बीजमंत्रों के कोष्ठकों में दिये गये अर्थ जैन परम्परा में अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी भक्तजन को एक नवीन दृष्टि का दान करते हैं,

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभ देव का काल.

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म में सर्वार्थसिद्धि विमान में एक महान् ऋद्धिधारी देव थे. आयु के अंत में उन्होंने वहां से चय कर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ में अवतरण किया. इनके गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया. अतः जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए. गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न में एक सुन्दर बैल को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया. जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानों से विशिष्ट थे, अतः इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई. बिना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओं के ज्ञाता थे, इन्होंने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त संसार में स्वयं सत्, ऋत, धर्म एवं मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अतः वह स्वयंभू तथा सुकृत नामों से प्रसिद्ध हुए. भोगयुग की समाप्ति पर इन्होंने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगों की शिक्षा प्रदान की थी, अतः यह विधाता, विश्वकर्मा एवं प्रजापति नामों से विख्यात हुए. ये ही अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार—शरीर तथा भोगों से निर्विण्ण हुए तथा संयम एवं स्वाधीनता-पथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अतः वशी, यति एवं व्रात्य नामों से प्रसिद्ध हुए.

इन्होंने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषों को भस्मसात् किया, अतः यह रुद्र, श्रमण आदि संज्ञाओं से विख्यात हुए. इन्होंने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् में सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवों को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त में देह त्याग कर सिद्ध लोक में अक्षय पद की प्राप्ति की.

जैन परम्परा में जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है और जिन्हें लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की संज्ञा दी गई है. वैदिक परम्परा में वही [१] हिरण्यगर्भ, [२] जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र, पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, [५] निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध है.

---

१. अथर्ववेद ४, ११, १२.

२. "अजैर्यष्टके."—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, २७, ३८, १६४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, वैवीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिश्र, यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतियां, सूक्तियां और आख्यान पहुँचे हैं.[१] वहां भगवान् अशुर [असुर], ओसोरिस [असुरशि] अहुरमज्द [असुरमहत्], ईस्टर [ईषतर], जहोव [यह्व महान्] गौड [गौर गौड] अल्ला [ईड्य स्तुत्य], I A M [अहमस्मि], सूर्यस् [सूर्य] रवि, मिथ [मित्र] वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये. यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान पगम्परागत सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त चार वृत्त "1. In Carnation 2. Suffering and Crucification 3. Ressurrection और 4. Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध हैं. इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमें उपर्युक्त संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं.

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आपः (जल), वातः (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों की कविजन 'पुरस्यं दर्शतं विश्व चक्षणन् [बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष, सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही, वियेतिरे [व्याख्या करते हैं].[२]

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मंत्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास-क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है. वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं :[३]

"दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरूपं द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिंधान एवं जाते स्वाधीः ॥"

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए. द्वितीय बार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए. तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है, जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया. तथा—

"विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरूत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगंथ ॥"[४]

अर्थात् हे अग्रनेता, हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं. इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं. इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ़ परमधाम है, उसको भी हम जानते हैं. और उच्च मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है.

उक्त श्रुति से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे.

वैदिक रुद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[५] में रुद्र के जो—रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये नौ नाम हैं, वे अग्नि

१. Dr. H. R. Hall : The ancient History of far Ecst 104, 77, 158, 203, 367, 402.
२. अथर्ववेद. १८, १, १.
३. ऋग्वेद, १०, ४५, १.
४. वही, १०, ४५, २.
५. तान्येतानि अष्टौ रुद्रःशर्वःपशुपति उग्रः अशनिः भवः ।
महान्देवः ईषानः अग्निरूपाणि कुमारो नवम् ॥ —शतपथ ब्राह्मण ६, १, ३, १८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' में उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् वृषभदेव को ही वैदिक काल में अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था. फलतः रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं.

वैदिक परम्परा में वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जब कि जैन परम्परा में भगवान् ऋषभदेव को ही शिव, उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है. यहाँ रुद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है.

ऋग्देव में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं. उनकी स्तुति में तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं[१] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले मन्त्र छह रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में.[२] एक अन्य सूक्त में रुद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है.[३] अन्य देवताओं की स्तुति में भी जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तों में रुद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीकों के सम्बन्ध में विद्वानों की विभिन्न मान्यताएँ हैं. रुद्र का शाब्दिक अर्थ, मरुतों के साथ उनका संगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप इन सब को दृष्टि में रखते हुए कुछ विद्वानों की धारणा है कि रुद्र झंझावात के प्रतीक हैं. जर्मन विद्वान् वेबर ने रुद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक है.[४] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप में झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक है.[५] श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक माना है.[६] अंग्रेज विद्वान् म्यूर की भी यही मान्यता है.[७] विलसन ने ऋग्वेद की भूमिका में रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है.[८] प्रो० कीथ ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नहीं.[९] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्हें मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियों के साथ उल्लेख किया गया है.

रूद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' है,[१०] जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलीकिन्',[११] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला. दोनों की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप में हो जाती है.

अपने सौम्य रूपों में रुद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधियां ठंडी और व्याधिनाशक होती हैं. रुद्र सूक्त में रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है.[१२] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों."

---

१. ऋग्वेद : १, ११४; २, ३३; ७, ४६.
२. ऋग्देव १, ४३.
३. वही : ६, ७४.
४. वेबर : इण्दीश स्टूडीन, २, १९—२२.
५. मेकडौनल : वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ सं० ७८.
६. भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म.
७. म्यूर : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स.
८. विल्सन : ऋग्वेद, भूमिका
९. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ सं० १४७.
१०. ऋग्वेद : १, ११४, १ और ५.
११. वही : १, ११४; ५.
१२. एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि. ऋग्वेद : २, ३३, १५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[1]—'हे मरुतो, तुम्हारी जो निर्मल औषधि है, उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं ऋषभनाथ) ने चुना था, वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते हैं.'

विशुद्ध आत्म-तत्वज्ञान ही यह औषधि है, जिसे प्राप्त कर रुद्रभक्त संसारजयी और सुखी होने की कामना करता है. प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मंत्र में उसकी जीवन-साधना देखिए. वह प्रार्थना करता है[2]:

'हे वज्रसंहनन रुद्र, तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो, सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियों में सर्वोत्तम बलशाली हो. तुम मुझे पापों से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो, जिससे मैं क्लेशों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूँ.'

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[3] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है.[4] रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है[5] और एक स्थल पर उन्हें "मेधापति' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है.[6] एक स्थान पर "द्विवर्हा" के रूप में भी उल्लेख किया गया है, जिसका सायण ने अर्थ किया है—"अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं.[7]

ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया. इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत-जल) को उसी प्रकार धारण करता है, जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को[8]. यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है, परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के तीसरे तथा बाद के मन्त्रों में केशी की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते हैं और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों को जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है.[9]

अथर्ववेद में भी रुद्र का व्याधि-विनाश के लिये आह्वान किया गया है.[10] कुछ मन्त्रों में रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है.[11] इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया, व्रात्य ईशान बन गया है.[12] तथा यह भी लिखा है कि "व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी.[13]

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है :

---

१. या वो भेषजः मरुतः शुचीनि या शान्तमा वृषणों या मयोमु.
यानि मनुर्वृणीता पिता नस्ताशंच योश्च रुद्रस्य वश्मि.—वहो २, ३३, १३.

२. श्रेष्ठो जातस्य रुद्र : श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रवाहो.
पर्षिणः पारमहंसः स्वस्ति विश्वा अभीति रपसो युयोधि.—वही २, ३३, ३.

३. ऋग्वेद : ६. ७४.

४. वही : ६, ७,३.

५. वही : २, १, ६; ३, २, ५.

६. वही : १, ४३, ४.

७. वही : १, ११४, ६.

८. ऋग्वेद : १, १७२, १; १, ६४, ८ तथा ६, ५, ३३, ५; ५, ६१, ४ आदि.

९. ऋग्वेद: १०, १३६, २–३.

१०. अथर्ववेद : ६, ४४, ३, ६, ५७, १, १६, १०, ६.

११. वही : ११, २, ७.

१२. वही : १५, १, ४, ५.

१३. व्रात्य आसी दीपमान एव स प्रजापतिं समैरयत. —अथर्ववेद १५, १.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कंचिद्विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानों में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते हैं.

इस प्रकार व्रतधारी एवं संयमी होने के कारण ही इन्हें व्रात्य नहीं कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे.[1]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है[2] कि यह व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया, और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है. दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[3] कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक महान् राजनीतिक शक्ति थी. उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड़ रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी. अतः उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया. व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया. व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्णय की ही पुष्टि करते हैं.

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एवं मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा नगरों की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि में लगभग ३००० ई० पूर्व में इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये थे. उस समय पहले से ही द्राविड़ लोग गान्धार से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियों में विभक्त होकर विभिन्न जनपदों में निवास कर रहे थे. इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एवं समुन्नत थी एवं शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे. ये जहाजों द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशों के साथ व्यापार करते थे.

ये द्राविड़ लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग में लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामों से विख्यात थे. श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे. अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामों से पुकारते थे. व्रतधारी एवं वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओं के जानकार होने से द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे. संस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड़' शब्द का ही रूपान्तर है. ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एवं ईश्वर के नामों से अभिहित करते थे. जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा संयम एवं तपोमार्ग के अनुगामी थे. इनके साधु दिगम्बर होते थे और बड़े-बड़े बाल रखते थे. अन्य लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे.[4]

यजुर्वेद में एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[5] (ध्वंसक या हानिकर) के रूप में उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौव्रात्य'

---

१. वृत्रो हवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम. "शपतथ ब्राह्मण ११, ३, ४.
२. होएरः दर व्रात्य (vratya)
३. एन०एन० घोष : इराडो आर्यन लिटरेचर एराड कल्चर (orgin) १६३४ ई०
४. "ये नातरन्भूतकृतोतिमृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण."—अथर्ववेदः ४, ३५.
५. यजुर्वेदः (वाजसनेयी संहिता) १०, २०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्द[1] का प्रयोग किया गया है, भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्छृंखल आचरण' किया है. इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है.[2] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर.[3] भिषक् रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है.[4] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है.[5]

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'[6] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है, जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है. इन्हें 'कृत्तिवासा:' कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है. उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है. मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था तथा "मूजवत" पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था. "कृतिवासा" उपाधि से प्रतीत होता है कि उसका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था.

"शतरुद्रिय स्तोत्र"[7] में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं. रुद्र को यहां पहली बार 'शिव'. शिवतर' तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखत किया गया है. 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है. 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक्' भी निर्दिष्ट किये गये हैं. प्रस्तुत स्तोत्र के वीस से वाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है. अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करनेवाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज), वंचक, स्तायूनां पति [ठगों का सरदार), तस्कराणां पति, मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुंचानां पति, आदि. इसके अतिरिक्त इनमें 'सभा' 'सभापति,' 'गण' 'गणपति' आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात,' 'व्रातपति', तक्षक, रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, आदि का भी निर्देश किया गया है.

ब्राह्मण ग्रंथों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था.[8] जैमनीय ब्राह्मण में कहा गया है[9] कि देवताओं ने प्राणीमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की. रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था, जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया.

श्वेताश्वतर उपनिषद् से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था. इसमें उन्हें

---

१. वही : (वाजसनेयी संहिता) ३६, ६, तथा महीधर का भाष्य-दुष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतम्.
२. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १.
३. वही : (तैत्तिरीय संहिता) १, २, ४.
४. वही : (तैत्तिरीय संहित) १, ८, ६.
५. वही : (वाजसनेयी संहिता) ६, ३, ६, ३, ६, ८. (तैत्तिरीय) १, ८, ६.
६. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १, ८, ६ (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३.
७. वही : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १.
८. कौशीतकी : २१, ३.
९. जैमिनीय : ३, २६१, ६३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यत: ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है.[1] वह मोक्षाभिलाषी योगियों के ध्यान के विषय हैं और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है.[2] इस काल में वह केवल जन सामान्य के ही देवता नहीं थे. अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्य देव भी बन चुके थे. इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था. अपर वैदिक काल में योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप में जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी. श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है. लिखा है कि प्रकृति, पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है.[3] पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में काम करता है.[4] इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्य देव बन गये थे जो सांख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे. प्रश्नोपनिषद् में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है.[5] मैत्रायणी उपनिषद् में रुद्र की 'शम्भु' [अर्थात् शान्तिदाता] उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ.[6]

श्रौत-सूत्रों में रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में. यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता का है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामों का उल्लेख है.[7] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियों से भी विभूषित किया गया है.[8] रुद्र से मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है.[9] उन्हें रोगनाशक औषधियों का दाता[10] और व्याधिनिवारक[11] कहा गया है. गृह्य सूत्रों में रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियों का उल्लेख मिलता है,[12] यद्यपि इनके 'शिव' और शंकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं.[13] यहाँ उन्हें श्मशानों, पुण्यतीर्थों एवं चौराहों जैसे स्थलों में एकान्त विहारी के रूप में चित्रित किया गया है.[14]

सिन्धु घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ संमिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया. इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा. इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ. इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया. इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई. परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था. इस प्रकार भारत में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव-

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११, ५, १६.
२. वही : ३, २-४, ३, ७, ४, १०-२४.
३. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १.
४. वही: ४, ५.
५. प्रश्नोपनिषद् २, ६.
६. मैत्रायणी उपनिषद् १५, ८.
७. शांखायन श्रौतसूत्र : ४, १६, १.
८. वही : ४, २०, १४.
९. वही : ४, २०, १.आश्वलायनः ३, ११, १.
१०. लाख्यायन श्रौतसूत्रः ५, ३, २.
११. शांखायन श्रौतसूत्रः ३, ४, ८.
१२. आश्वलायन गृह्यसूत्रः ४, १०.
१३. वही: २, १, २.
१४. मानवगृह्यसूत्र २, १३, ६, १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का एक अंग बन गई. दूसरी ओर उपनिषदों से प्रतीत होता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नवीन धार्मिक तथा दार्शनिक विचारधारा के प्रवर्त्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे. सूत्रयुग में रुद्र को 'विनायक' की उपाधि दी गई और यही अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ. रुद्र तथा विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे, परन्तु कालक्रम से यह स्मृति लुप्त हो गयी और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा.

उपनिषत्कालीन भक्तिवाद ने देश के धार्मिक आचार-विचार में युगान्तर उपस्थित कर दिया. कर्मकाण्ड का स्थान स्तुति, प्रार्थना तथा पूजा ने ले लिया और मन्दिरों के निर्माण के साथ मानवाकार तथा लिंगाकार में रुद्र-मूर्तियों की प्रतिष्ठा तथा पूजा आरम्भ हो गई तथा रुद्र का नाम भी अब शिव के रूप में लोकप्रचलित हो गया.

पाणिनि के समय में शिव के विकसित स्वरूप के प्रमाण वे सूत्र हैं, जिन्हें 'माहेश्वर'[1] बतलाया गया है. वैसे पाणिनि की अष्टाध्यायी में रुद्र, भव और शर्व शब्दों का भी उल्लेख मिलता है.[2]

रामायण में रुद्र के अत्यधिक विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं. यहाँ उन्हें मुख्यतः 'शिव' कहा जाता है. महादेव, महेश्वर, शंकर तथा त्र्यम्बक नामों का अधिक उल्लेख मिलता है. यहाँ उन्हें देवताओं में सर्वश्रेष्ठ देव-देव कहा गया है.[3] और अमरलोक में भी उनकी उपासना विहित दिखलाई गई है.[4] एक अन्य स्थल पर उन्हें अमर, अक्षर और अव्यय भी माना गया है.[5] एक स्थान पर उन्हें हिमालय में योगाभ्यास करते हुए दिखलाया गया है.[6] रामायण में शिव के साथ देवी की उपासना भी भक्त जन करते हैं. इन दोनों को लेकर जिस उपासनापद्धति का जन्म हुआ, वेदोत्तर काल में वही शैवधर्म का सर्वाधिक प्रचलित रूप बना. रामायण में शिव की 'हर'[7] तथा 'वृषभध्वज'[8] इन दो नवीन उपाधियों का भी उल्लेख मिलता है.

महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिन्त्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एक मात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है. एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से.[9] वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं. एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है.[10] अनेक स्थलों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर[11] की उपाधि इस तथ्य की द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्धमान महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था.

महाभारत में शिव के एक अन्य नवीन रूप के दर्शन होते हैं और वह है उनका 'कापालिक' स्वरूप. यह स्वरूप मृत्युदेवता वैदिक रुद्र का विकसित रूप मालूम देता है. यहाँ उनकी आकृति भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य

---

१. माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं—अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, ञ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्, श ष स र्, हल्.
२. अष्टाध्यायी : १, ४९, ३, ५३, ४, १००.
३. रामायण, बालकाण्डः ४५, २२–२६, ६६. ११–१२, ६, १, १६, २७.
४. वही, १३, २१.
५. वही, ४. २९.
६. वही, ३६, २६.
७. रामायण, बालकाण्डः ४३, ६. उत्तरकाण्डः ४, ३२, १६, २७, ८७, ११.
८. वही, युद्धकाण्डः ११७, ३ उत्तरकाण्डः १६, ३५, ८७, १२.
९. महाभारत द्रोणः ७४, ५६, ६१. १६९, २९.
१०. वहीः अनुशासनः ९८, ८, २२.
११. अनुशासन वहीः ९८, ७४ आदि.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आकृति के सर्वथा विपरीत एवं भयावह है. वह हाथ में कपाल लिये हैं[1] और लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहां वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं.[2] उनके गण को 'नक्तंचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है.[3] एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस भक्षण करते हुए तथा रक्त एवं मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है.[4]

अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है,[5] भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है.[6] उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है.[7] वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया. वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही 'भरत-पुत्रों' को सिद्धि सिखाई.[8] अन्त में शिव के त्रिपुर-ध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था.[9]

पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है. यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं.[10] वह एक आदि पुरुष हैं. परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है.[11] बुद्धिमान् और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं.[12] वह सर्वज्ञ हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं.[13] वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं.[14] उन्हें 'महायोगी',[15] तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है.[16] सौर[17] तथा वायु पुराण[18] में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है. इन्हें इस रूप में 'यती',[19] 'आत्म-संयमी' 'ब्रह्मचारी'[20] तथा 'ऊर्ध्वरेताः'[21] भी कहा गया है. शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार

१. वनपर्व वही: १८८, ५० आदि.
२. वही वनपर्व: ८३, ३.
३. द्रोण पर्व: ५०, ४९.
४. वही, अनुशासन पर्व, १५१, ७.
५. बुद्धचरित: १०, ३, १, ९३.
६. नाट्यशास्त्र: १, १.
७. वही: १, ४५, २४, ५, १०.
८. वही: १, ६०, ६५.
९. वही: ४, ५, १०.
१०. लिंग पुराण, भाग २, २१, ४९, वायुपुराण: ५५, ३, गरुड़पुराण: १६, ६,७.
११. सौरपुराण: २९, ३१, ब्रह्मपुराण: १२३, १९६.
१२. वही: २, ८३, ब्रह्मपुराण: ११०, १००.
१३. वायु पुराण: ३०, २८३, ८४.
१४. वही: ६६, १०८, लिंग पुराण भाग १, ११.
१५. वही: २४, १५६ इत्यादि.
१६. ब्रह्मवैवर्तपुराण: भाग १, ३, २०, ६, ४.
१७. सौर पुराण: अध्याय १२.
१८. वायु पुराण अध्याय १०.
१९. मत्स्यपुराण: ४७, १३८, वायुपुराण: १७, १६६.
२०. वही, ४७, १३८, २६, वायुपुराण: २४, १६२.
२१. मत्स्यपुराण: १३६, ५, सौरपुराण: ७, १७, ३८, १, ३८, १४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेने का उल्लेख है.[1] प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है.[2]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक 'जिनेन्द्र रुद्राष्टक' का उल्लेख हुआ है. यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है, परन्तु पद्य सात ही हैं. इसमें जिनेन्द्र भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है. बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसाररूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दश धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं. तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं. सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प-परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मंडित हैं तथा हुंकारमात्र से भय का विनाश करने वाले हैं.[3]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञान रूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं, जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अंधकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है.[4]

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्राष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिककालीन रुद्र ने कापालिक एवं पौराणिक युग के लोकप्रचलित स्वरूप को अंगीकार कर लिया था, जिसका जैन परम्परानुरूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना में करके अपनी परम्परागत रुद्रभक्ति का परिचय दिया. वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है.

स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है. भगवान् का यह एक संस्तवन है, जिसे उनके केवल ज्ञान

---

१. इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे । सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितवस्तव ।
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत् । स्वर्ग्यंयशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः । —शिवपुराण ४, ४७-४८.

२. कैलाशे विमलरम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः । चकार स्वावतार च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः । —प्रभासपुराण, ४९.

३. 'पापान्धकनिर्णाशं मकरध्वज-लोभ-मोहपुरदहनम्, तपोभस्म भूषितांगं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।१।
संयमवृषभारूढं तप-उग्रमहत तीक्ष्णशूलधरम्, संसारकरिविदारं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।२।
विमलमतिचन्द्ररेख विरचितसिलशुद्धभावकपालम्, व्रताचलशैलनिलय जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।३।
गुणगणनरशिरमालं दशाध्वजोद्भूतविदितखड्वाङ्गम्, तपः कीर्तिगौरिरचितं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।४।
सप्तभयडाम डमरूकवाद्यं अनवरतप्रकटसंदोहम्, मनोवद्धसर्पपरिकरं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।५।
अनवरतसत्यवाचा विकटजटामुकुट कृतशोभम्, हुंकारभयविनाशं जिनेन्द्ररुद्रं सदा वन्दे ।६।
ईशान शयनरचितं जिनेन्द्ररुद्राष्टकं ललितं मे भावं च, यः पठति भावशुद्धस्तस्य भवेज्जगति संसिद्धिः ।७।'

४. 'णिद्धद्धमोहतरुणो वित्थिण्णणाण-सायरुत्तिण्णा, णिहय-णिय-विग्ध-वग्गा बहुवाहविणिग्गया अयला ।
दलिय-मयण-धायावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहिं, दिट्ठसयलट्ठसारा सुरद्धतिउण मुणिव्वइणो ।
तिरयणतिसूलधारिय मोहंधासुर-कवंध-विन्दहरा, सिद्धसयलप्परूवा अरहन्ता दुण्णयकयंता ।
—धवला टीका—१ पृ० सं० ४५-४६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है. स्तवन में भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है[1] कि वह दुर्मथ कामदेव का मन्थन करनेवाले हैं, दोष-रोष रूपी मांस के लिये अग्नि के समान हैं, सम्पूर्ण विशुद्ध केवलज्ञान के आवास हैं, और मिथ्यामार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विधारक हैं. वह[2] कंकाल, त्रिसूल, मनुष्य-कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित हैं, शान्त हैं, शिव है, अहिंसक हैं, राजन्यवर्ग उनके चरणों की पूजा करता है, परोपकारी हैं, भीति दूर करने-वाले हैं, परन्तु अपने अन्तरंग रिपुवर्ग के लिये भयंकर हैं, वामाविमुक्त [स्त्री रहित] हैं, परन्तु स्वयं संसार के लिये वाम [प्रतिकूल] हैं, त्रिपुरहारी [जन्म जरा मृत्यु] अथवा मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक हैं, हर हैं, धैर्यशाली हैं, निर्मल स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू हैं, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्वियों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं, महान् गुणगणों से यशस्वी हैं, महाकाल हैं, प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश [गणधरों के स्वामी] हैं, गणपतियों [वृषभसेन आदि गणधरों] के जनक हैं, ब्रह्म है, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी [सिद्धान्तवादी] हैं, कमलयोनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदिवराह हैं, सुवर्णवृष्टि के साथ गर्भ में अवतीर्ण हुए हैं, दुर्भय के निवारक हैं, हिरण्यगर्भ हैं, [युगसृष्टा हैं] परमानन्तचतुष्टय [अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य] से सुशोभित हैं, अज्ञानान्धकार-हारी हैं, दिवसनाथ हैं, यज्ञपुरुष हैं, पशुयज्ञ के विनाशक हैं, ऋषि-सम्मत अहिंसाधर्म के प्रकाशक हैं,[3] माधव (अन्तरंगबहिरंग लक्ष्मी के स्वामी) हैं, त्रिभुवन के माधवेश हैं, मद्यरूपी मधु को दूषित करने वाले मधुसूदन हैं, लोकद्रष्टा परमात्मा हैं, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) हैं, केशव हैं और परमहंस हैं. इन्द्र कहते हैं—भगवान् को संसार में केशव कहा जाता है जो रागी हो [यः केशेषु रागवान् स 'केशवः'[4] जो केशों में अनुरागी हो उसे केशव कहते हैं], परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अतः तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है ? 'केशव'[5] के अन्य प्रश्नमूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते हैं—भगवन्, वास्तव में वे ही जड़ हैं जो तुम्हारा उपहास करते हैं और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है. भगवन्, तुम काश्यप हो, जड़-आचार से विहीन हो, एकाग्रचिन्तानिरोधपूर्वक ध्यानी हो, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यजमान, पृथ्वी, पवन, सलिल—इन आठ शरीरों से युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो. कलिकाल के समस्त पाप-पंक से मुक्त[6] हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्गनाशक

---

१. जय दुम्महवम्महणिम्महण दोस-रोस-पशु-पास-सिहि, जय सयलविमलकेवलणिलय हरण-करण-उद्धरणविहि ।

२. जय कंकालसूलणरकंदलविसहरविलयविरहिया, जय भगवंत संत सिव सकिव णिवंचियचरण परहिया ।
जय सुकइ कहियणीसेसणाम भीमंथण णियरिउवग्गभीम, वामाविमुक्क संसारवाम जय तिउरहारि हरहीरधाम ।
जय पयडियधुससयंभुभाव जयजय संयभू परिगणिय भाव, जय संकर संकर विहियसंति जय ससहर कुवलयदिण्णकंति ।
जय रुद्द रउद्दतवग्गगामि जय जय भवसामि भवोवसामि, महएव महागुणगणजसाल महकाल पलयकालुग्गकाल ।
जय जय गणेस गणवइजणेर जय बंभपसाहिय बंभचेर, वेयंगवाइ जय कमलजोणि आई वराह उद्धरियखोणि ।
सहिरण्णविट्ठि पडिवण्णगव्भ जय दुण्णयणिहण हिरण्णगब्भ, जय परमाणंत चउक्कसोह भावंधसारहर दिवसणाह ।
जय जण्णपुरिस पसुजण्णणासि रिसिसंस अहिंसाधम्मभासि ॥

३. 'जय माहव तिहुवणमाहवेस महुसूयण दूसियमहुविसेस जय लोयणिओइय परमहंस गोवद्धण केसव परमहंस ।
जगि सो केसउ जो रायवंत तुह णीरायहु, कहिं केसवत्तु.—'महापुराण' १०, ५.

४. देखिये, महापुराण १०, ५ की टिप्पणी.

५. के सव ते सव जे पइ हसंति जड पावपिंड रउरवि वसंति, जय वासव का सवविहि तुमम्मि णेरंतरू चित्ति णिरोहु जम्मि ।
जय गयण हुयासणचंद रवि जीवय महि मारुय सलिल, अट्ठंगमहेसर जय सयल पक्खालिय कलिमलकलिल ॥—'महापुराण' १०, ५.
तुलना कीजिये :
या सृष्टि सृष्टाराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ये द्वे सन्ध्ये विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्व ।
यामाहु 'सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः, प्रत्यक्षाभिः 'प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः' ।
—अभिज्ञानशाकुन्तल १, १ तथा मालविकाग्निमित्र १, १.

६. जय जय सिद्ध बुद्ध सुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासणा, जय वइकुंठ विट्ठु दामोयर हयपरवाइवासणा ॥—'महापुराण' १०,६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, वैकुण्ठवासी विष्णु हो, दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो.

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित संस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में ही शिव के त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है. यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैनदृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है, परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी अंशतः उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है. पुष्पदंत का युग जैनधर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था. खजुराहो[1] के १००० ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच में शिव का 'एकेश्वर' रूप में तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है. यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक संघर्ष ने उग्ररूप धारण किया और चार्वाक, कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया.[2]

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य :

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनों के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार हैं :

शिव रात्रि तथा कैलाश :

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी हैं और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बड़ा महत्त्व है.

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे. वहाँ पहुँच कर योगनिरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की.[3]

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि-रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई.

उत्तरप्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है. उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचागों में मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है. उत्तरप्रान्त में मास का आरंभ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से. प्राचीन मान्यता भी यही है. जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है. ईशान[4] संहिता में लिखा है :

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान्

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका : भाग १, पृष्ठ सं० १४८.

२. सौरपुराण : ३८, ५४.

३. 'माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते.
(क) अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि ।'—तिलोयपण्णत्ती ।
(ख) ....घणतुहिणकणाउलि माहमासि ।
सूरग्गमिकसणचउद्दसीहि णिव्वुइ तित्थंकरि पुरिससीहि ।—महापुराण : ३७, ३.

४. ईशान संहिता.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदिदेव [वृषभनाथ] शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग [चिह्न] से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे.

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष में ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत हैं. जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघकृष्ण पक्ष कहा जायगा. जैन-पुराणों के प्रणेता प्रायः दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर-भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है. कालमाधवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[1] :

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है.

गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई. यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभ देव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वसंवित्तिरुपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया.

गंगावतरण जैन परंपरानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है. वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है. वहाँ से निकल कर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़ कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गंगा की धारा गिरती है. विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में[2] प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएं हैं. प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके ऊपर गिरती है.

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है[3] :

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट

१. कालमाधवीय नागर खण्ड.
२. त्रिलोकप्रज्ञप्ति : ४, २३०.
३. त्रिलोक सार : ५६०, गाथा संख्या.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिये ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है.

त्रिशूल

वैदिक परंपरा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं. जैनपरंपरा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सयग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है. आचार्य वीरसेन ने एक गाथा त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है.[१] सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं जो दिगम्बर हैं, जिनके शिर पर त्रिशूल हैं और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं. कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं. मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से संबंधित हैं. इस के अतिरिक्त खंडगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशानकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है.[२] डा० रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है.

ब्राह्मीलिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवीं सन्धि में देखा कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई. भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी लिपि है. जैनपरम्परा में तथा उपनिषद् में भी भगवान् ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है,[३] अतः ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है[४] तथा ब्रह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है.

दूसरी ओर पाणिनि ने अइउण् आदि सूत्रों (सूत्रबद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है,[५] जिसका अर्थ है महेश्वर से आये हुए. वैदिक परंपरा में जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है,[६] वहाँ जैनपरम्परा में भगवान् ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) हैं. इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गई ब्राह्मीलिपि की अक्षरविद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनों में जहाँ स्वरूपतः ऐक्य है, वहाँ यह ऐक्य ही दोनों के प्रवर्तक संबंधी ऐक्य को इंगित करता है.

वृषभ [बैल] का योग

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है. जैनमान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है. गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रक्खा गया. सिन्धु घाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक

---

१. तिरयण-तिसूलधारिय·········'धवलाटीका, १, ४५-४६.

२. (a) Kurtshe, list of ancient monuments protected under Act VII of 1904 (Arch. Survey of India New imperial series vol 4) Trisula in Anant gumpha P. 273 and in Trisula Gumpha P. 280.

(b) Smith Jain stupa and other Antiquities of Mathura Ayegapata tablets pls. IX,X and XI.

३. ब्रह्मा देवानां प्रथम संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।···मुण्डकोपनिषद् : १, १.

४. ब्रह्मण : आगता (ब्रह्मा से आई हुई) इस अर्थ में व्याकरणशास्त्र द्वारा ब्रह्मी शब्द की निष्पति होती है.

५. इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि. —सिद्धांतकौमुदी, पृ० सं० २.

६. अथर्ववेदः १६, ४२, ४; १६, ४३ सूक्त, यजुर्वेद ४०, ४६ ऋग्वेद ४, ५८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं. इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को संपुष्ट करता है,

भगवान् वृषभदेव तथा शिव दोनों का जटाजूटयुक्त[१] तथा कपटी रूपचित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक है. भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन में उनके केश बहुत बढ़ गये,[२] फलतः उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति में ही जटाजूटयुक्त मूर्तियों का निर्माण प्रचलित हुआ.

१. वत्तीसुवएस मुणीसरहं कुडिला उंचियकेसं.—महापुराणु ३७, १७ तथा यजुर्वेद, १६,५६.

२. संस्कारविरहात् केशा 'जटीभूतास्तदा विभो', नूनं तेऽपि तमःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः ।
मुनेर्मूर्ध्निजटा दूरं प्रससुः पवनोद्धता', ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिका । —आदिपुराणः १८, ७५-७६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org